त्रिलोक सिंह ठकुरेला

माटी की गंध

ई-मेल-trilokthakurela@gmail.com

बादल और नीचे झुक आये थे। अशोक ने एक बार आसमान की ओर देखा और अपने पिता रघुनाथ से कहा, "पिताजी, अब गाँव में रहने की जरूरत भी क्या है ? आप मेरे साथ दिल्ली में भी तो रह सकते हो।"

"अशोक, यहाँ खेती करता हूँ तो हाथ-पैर चलते रहते हैं । इसीलिए ठीक भी हूँ । शहर में तो बैठे-बैठे सारा शरीर बेकार ही हो जायेगा।"

"क्यों बेकार हो जायेगा ? वहाँ पार्क हैं, सुन्दर सड़कें हैं। आप सुबह-शाम घूम सकते हो।"

"फिर भी बेटा अपनी धरती की बात अलग होती है।"

"पिताजी, दिल्ली भी तो अपनी ही धरती पर है, वह कोई विदेश में थोड़े ही है।"

रघुनाथ थोड़ी देर चुप रहा । फिर बोला, "बेटा, किसानी से कुछ कमाता हूँ तो तेरी ही मदद करता हूँ न।"

"नहीं पिताजी; आपके आशीर्वाद से मुझे कोई कमी नहीं है। अब आपको खेती करने की कोई जरूरत नहीं है।"

"अशोक, किसान केवल अपने और अपने परिवार के लिए ही नहीं जीता । अगर किसान अन्न नहीं उगाए तो लोग क्या खायेंगे ? "

अशोक ने तर्क दिया, "केवल आपके गाँव छोड़ने से गाँव खाली नहीं होगा पिताजी । गाँव में और लोग भी हैं किसानी के लिए ।"

"अशोक ! ऐसा सभी सोचने लगें, तब ?"

अशोक ने झुंझलाकर कहा, "पिताजी, आपको वहाँ कोई कमी नहीं अखरेगी।"

तभी बादलों से नन्हीं-नन्हीं बूँदें झरने लगीं । धरती की सौंधी गंध हवा में बिखर गयी। सहसा रघुनाथ ने कहा, "माटी की यह गंध दे सकोगे ?"

पिताजी

त्रिलोक सिंह ठकुरेला

पिताजी एक माह से बीमार थे। उनके व माँ के कई बार फोन आ चुके थे, किन्तु मैं गाँव नहीं जा पाया। सच कहूँ तो मैं छुट्टियाँ बचाने के मूड में था। उमा का सुझाव था—'बुखार ही तो है, कोई गम्भीर बात तो है नहीं। दो माह बाद दीपावली पर जाना ही है। अब जाकर क्या करोगे। सब जानते हैं कि हम सौ किलोमीटर दूर रहते हैं। बार बार किराया खर्च करने में कौन-सी समझदारी है।"

एक दिन माँ का फिर फोन आया। वह गुस्से में थीं, "तेरे पिताजी बीमार हैं और तुझे आने तक की फुर्सत नहीं। वह बहुत नाराज हैं तुझसे। कह रहे थे कि अब तुझसे कभी बात नहीं करेंगे।"

उसी दिन ड्यूटी जाते समय मुझे ऑटो रिक्शा ने टक्कर मार दी। बायें पैर पर प्लास्टर चढ़ाना पड़ा।

उमा ने माँ को फोन कर दिया था। दो घंटे में ही पिताजी हॉस्पीटल में आ पहुँचे। वह बीमारी की वजह से बहित कमजोर किन्तु दृढ थे। मुझे सान्त्वना देते हुए बोले, "किसी तरह की चिंता मत करना। थोड़े दिनों की परेशानी है। तू जल्दी ही ठीक हो जायेगा।" उन्होंने मुझे दस हजार रुपये थमाते हुए कहा, "रख ले , काम आयेंगे।"

मैं क्या बोलता। मुझे स्वयं के व्यवहार पर शर्म आ रही थी।

जीवन के झंझावात में पिताजी किसी विशाल चट्टान की तरह मेरे साथ खड़े थे।

विकलांग

मुझे प्रतियोगी परीक्षा देने उज्जैन जाना था, किन्तु रिजर्वेशन न मिलने से चिंतित था।

मित्रों ने सलाह दी, "अरे क्यों चिंता करते हो, विकलांगों वाले कोच में बैठकर चले जाना।"

मरता क्या न करता! मैं विकलांगों वाले कोच में चढ़ गया। पूरे कोच में सिर्फ दो विकलांग व्यक्ति थे। एक फर्श पर सोया था, दूसरा उसके पास ही बैठा था, वहीँ उसकी बैसाखियाँ रखी थीं। जिन लोगों ने बर्थ पर कब्ज़ा जमा रखा था, वे पूरी तरह हृष्ट-पुष्ट थे। विकलांगता से उनका दूर-दूर तक कोई सम्बन्ध नहीं था।

रेलगाड़ी चलने ही वाली थी कि नशे में धुत्त एक शराबी कोच में घुस आया। उसने लोगों को गालियाँ देना शुरू कर दिया। जो सोये थे, वे जाग गये। जो जागे थे, वे बैठ गये। सभी चुपचाप गालियाँ सुन रहे थे कि शराबी के मुँह कौन लगे ? इससे कोच का माहौल बहुत ख़राब हो गया था। शराबी ज्यादा ऊधम करने लगा तो एक विकलांग ने प्रतिरोध किया। शराबी ने उसे आँखें दिखायीं तो वह बैसाखियों के सहारे तनकर खड़ा हो गया। उसने एक बैसाखी तानकर शराबी को चुपचाप कोच से चले जाने की हिदायत दी। शराबी डरकर तुरंत कोच से नीचे उतर गया।

विकलांग ने कोच में उपस्थित अन्य लोगों पर एक नज़र डाली, जैसे पूछ रहा हो—'वस्तुतः विकलांग कौन है ?'

रेलगाड़ी सीटी देकर चल दी।